एक शिक्षक का अपनी कक्षा में सामना धर्म, संस्कृति, भाषा, वर्ग तथा जाति आदि की विविधता से होता है। उस विविधता के प्रति शिक्षक का नजरिया तय करता है कि बच्चों के सीखने में बाधा उत्पन्न करेगा अथवा सामाजिक भिन्नता को पाटने के लिए एक संसाधन के तौर पर इसका उपयोग किया जाएगा। यह लेख तर्क करता है कि कक्षा में सहज रूप से विद्यमान इस विविधता की अनदेखी यथास्थिति को बनाए रखने में मदद कर सकती है, वहीं इसके प्रति संवेदनशील नजरिया एवं शिक्षणशास्त्र में उचित बरताव सामाजिक भिन्नता को पाटने में मददगार हो सकता है।

सांस्कृतिक विविधता और शिक्षणशास्त्र

भिन्नता को पाटने में बच्चों की भागीदारी

रोहित धनकर

भाग-I

छोटे विद्यालय में प्रारम्भ

किसी भी संवेदनशील अध्यापक को अपनी कक्षा में दो प्रकार के मूल्यों में होने वाले तनाव का अनुभव होता है। भिन्न-भिन्न पृष्ठभूमि के छात्रों के प्रति 'समानता' का व्यवहार करना तथा उनके सांस्कृतिक अन्तर को पहचानना, ये दो मूल्य हैं। 'समानता' के आदर्श के तहत प्रत्येक शिक्षार्थी को भेदभाव रहित समान दृष्टि से देखना है तो दूसरी ओर उनके बीच के सांस्कृतिक अन्तर पहचानते हुए किसी शिक्षार्थी की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के अनुरूप व्यवहार में उपयुक्त परिवर्तन आवश्यक है। प्रथम दृष्टि में ऐसा प्रतीत होता है मानो कि इन दोनों मूल्यों में कोई द्वंद्व हो तथा एक आदर्श के पालन के लिए आपको दूसरे का बलिदान करना पड़ेगा। थोड़ा गहन विश्लेषण करने पर हम पाते हैं कि ऐसा नहीं है। किन्तु इस बिन्दु पर हम बाद में चर्चा करेंगे।

भारत में हमने धर्म तथा भाषा पर आधारित सांस्कृतिक विविधता को स्वाधीनता के समय से ही मान्यता प्रदान की तथा भाषा के आधार पर राज्यों का गठन किया गया। भाषा के आधार पर गठित राज्य विशाल थे और कुछ राज्य तो पूरे राष्ट्रों जितने बड़े हैं। किसी एक महत्त्वपूर्ण मापदण्ड को मान्यता प्रदान करने तथा 'विविधता में एकता' को प्रतिष्ठित करने की जल्दबाजी के कारण एक विशाल देश में सांस्कृतिक भिन्नता के अन्य महत्त्वपूर्ण कारक भुला दिए गए। उदाहरण के लिए, 'जाति' एक ऐसा कारक है जिसे हम (लम्बे समय से और आज भी) 'सांस्कृतिक भिन्नता' का कारण नहीं समझते, जिसे शिक्षण विधि के लिहाज से जायज ध्यानाकर्षण की जरूरत हो सकती है। चूंकि स्वतंत्रता के समय धर्म आधारित विभाजन हुआ अतः धर्म को भी शिक्षण विधि की दृष्टि से कक्षा-कक्ष में 'भिन्नता' के स्रोत के रूप में कमतर आंका गया।

परिणामस्वरूप, हमारे शिक्षाक्रम तथा शिक्षण विधि से संबंधित व्यवहारों में अभिजात्य शहरी मध्यमवर्ग के नैतिक विचारों का ही प्रभुत्व बना रहा तथा उच्च जातियों का सामाजिक व्यवहार तथा आदर्श प्रधान रूप से मौजूद रहे। यह स्थिति ग्रामीण क्षेत्र के दलित बालकों के लिए अनुपयुक्त है। कक्षा में जो पाठ्यपुस्तकें तथा पाठ्य सामग्री काम में लाई जाती है वह कक्षा में 'विविधता' को मान्यता नहीं देती तथा बच्चों की पृष्ठभूमि में विद्यमान भिन्नता को या तो नजरअंदाज किया जाता है अथवा हेय दृष्टि से देखा जाता है।

जब हमने 1978 में दिगन्तर का पहला विद्यालय प्रारम्भ किया तब सामान्यतः

लेखक परिचय

जयपुर स्थित स्वयंसेवी संगठन दिगन्तर के संस्थापक एवं सचिव, राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा : 2005 की संचालन समिति के सदस्य तथा पाठ्यचर्या एवं पाठ्यपुस्तक पर बने राष्ट्रीय फोकस समूह के अध्यक्ष रहे हैं।

पुस्तक : शिक्षा और समझ, शिक्षा के संदर्भ और विकल्प (संपादित), आधार प्रकाशन, पंचकुला, हरियाणा।

संपर्क : दिगन्तर, टोडी रमजानीपुरा, खोनागोरियान रोड, जगतपुरा, जयपुर-302025

email : rdhankar@gmail.com

सर्वत्र एवं कम से कम हिन्दी भाषी उत्तरी भारत में तो शैक्षिक वातावरण की यही दशा थी। हमारे विद्यालय में 25 बच्चे तथा दो अध्यापक थे। आज जब मैं पीछे मुड़कर देखता हूं तो याद आता है कि छोटा विद्यालय होते हुए भी बच्चों की पारिवारिक पृष्ठभूमि में पर्याप्त भिन्नता मौजूद थी। विद्यालय में विभिन्न प्रकार की जातियों यथा- ब्राह्मण, राजपूत, यादव, माली, धोबी तथा अनुसूचित जाति के बच्चों का प्रतिनिधित्व था। धार्मिक दृष्टि से हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख एवं राधास्वामी परिवारों के बच्चे विद्यालय में थे (राधास्वामी संप्रदाय- हिन्दू तथा सिक्ख धर्म का मिश्रण है किन्तु इसके अनुयायी सभी धर्मों में पाए जाते हैं)। दूसरी ओर इण्डो-यूरोपियन तथा भारतीय और नेपाली बच्चे भिन्न संस्कृतियों का प्रतिनिधित्व करते थे। संवेदनशील भारतीय दृष्टि के लिए तो किसी हद तक जातीय भिन्नता में सांस्कृतिक भिन्नता भी निहित होती है। हिन्दी, अंग्रेजी, नेपाली एवं राजस्थानी बोलियां एवं बच्चों के परिवारों की आर्थिक पृष्ठभूमि (अति गरीब, घरेलू नौकर, मजदूर एवं अति धनी) भी बहु-आयामी भिन्नता को दर्शाती थी।

"यह दरअसल एक हास्यास्पद विचार है कि बच्चे स्वयं ही अपने शिक्षाक्रम का निर्धारण कर सकते हैं। सीखने के तरीकों तथा सीखने योग्य विषयवस्तु के निर्धारण हेतु सीखने के क्षेत्र की पहले से समझ होना आवश्यक होता है। शिक्षाक्रम-निर्धारण बच्चों की निर्णयन क्षमता से परे सिर्फ इसलिए है क्योंकि, यदि उन्हें पहले से ही यह समझ होती तो स्कूल की आखिर जरूरत ही क्या थी ?"

स्कूल एक उद्योगपति परिवार द्वारा प्रदत्त वित्तीय सहायता से संचालित हो रहा था एवं उनके घर के पृष्ठभाग में स्थित बाग में स्कूल चलता था। अधिकांश बच्चों के अभिभावक इस परिवार के घरेलू नौकर, माली अथवा कारखाने में काम करने वाले श्रमिक के रूप में संबंधित थे। चूंकि दानदाता परिवार के बच्चे भी इस स्कूल में पढ़ते थे और कई अन्य बच्चों के अभिभावक यथार्थ में इस परिवार पर व्यावसायिक रूप से आश्रित थे। अतः बाहरी जीवन के सत्ता संबंध स्कूल में भी झलकते थे।

विद्यालय 'सीखने की स्वतन्त्र गति' के सिद्धान्त पर आधारित था न कि वार्षिक कक्षा विभाजन पर। किसी प्रकार की परीक्षा नहीं होती थी वरन् समझ कर सीखने एवं स्वयं सीखने की प्रवृत्ति पर जोर दिया जाता था। कक्षा में उपस्थित होने या न होने, पुस्तकालय में किताबें पढ़ने, बगीचे में झूला झूलने या मिट्टी में काम करने जैसे निर्णय स्वयं लेने के लिए बच्चे स्वतंत्र थे। हालांकि विद्यालय की अपनी एक समय सारणी थी किन्तु उदाहरणार्थ, अंग्रेजी के कालांश में कोई बच्ची यदि गणित पढ़ना चाहे तो उसे ऐसा करने की स्वतन्त्रता थी, हालांकि ऐसे में अध्यापक से उसे सहायता नहीं मिल सकती थी क्योंकि अध्यापक उस समय अंग्रेजी पढ़ाने में व्यस्त होते थे।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि बच्चों को स्वयं निर्णय लेने की काफी हद तक स्वतंत्रता थी। इस विद्यालय में लगभग सभी निर्णय यथा समय-सारणी, स्कूल का समय, भ्रमण, लकड़ी एवं मिट्टी से संबंधित कार्य, स्कूल की बैठक व्यवस्था, कक्षा का फर्नीचर आदि बच्चों की भागीदारी में ही लिए जाते थे।

विद्यालय के छात्रों का आयु-वितरण 4 वर्ष से 17 वर्ष के बीच था। स्कूल की बाहरी भ्रमण की योजनाओं का लगभग पूर्णतः प्रबन्ध बड़े बच्चे ही करते थे। कभी-कभार विद्यालय में शिक्षकों के न होने पर भी बच्चे अकेले एवं रुचि के साथ काम करते थे तथा स्कूल सामान्य रूप से चलता था। शिक्षाक्रम से संबंधित निर्णय बच्चे ले सकें- इस हेतु संरचनात्मक व्यवस्था थी। विषयवस्तु एवं क्षमताओं की दृष्टि से राष्ट्रीय एवं राज्य स्तरीय शिक्षाक्रम के अनुसार विद्यालय का शिक्षाक्रम शिक्षकों द्वारा निर्धारित किया जाता था, तथापि पर्याप्त रूप से स्वतंत्रता बरतते हुए। किन्तु सीखने की गति, पाठ्यपुस्तक के अध्यायों के पढ़ने का क्रम तथा उपलब्ध पाठ्यपुस्तकों में से पुस्तकों के चयन में बच्चे स्वतंत्र थे। ये निर्णय बच्चों के अपने सीखने से संबंधित थे न कि अन्य बच्चों के सीखने से।

इन सब तथ्यों के बावजूद यह बच्चों के 'स्वतंत्र निर्णयकर्ता' होने का परिचायक नहीं था बल्कि मैं इस अनुभव को निर्णय की प्रक्रिया में बच्चों की भागीदारी की बानगी के रूप में देखता हूं, क्योंकि :

1. सभी निर्णय शिक्षकों के साथ विचार-विमर्श करके लिए जाते थे। 'ब' के बजाय 'अ' एक अच्छा विकल्प क्यों है- इस पर संवाद एवं समझ कायम करना जरूरी होता था। इससे बच्चे अपने चयनित विकल्पों के संबंध में अधिक स्पष्ट और मुखर तथा चयन के कारण स्पष्ट करने में अधिक सक्षम बने। किसी विकल्प के संबंध में मतैक्य न होने पर बच्चे अपना रास्ता चुनने के लिए स्वतंत्र थे, पर यदि वे अपना निर्णय कभी भी बदलना चाहें तो शिक्षकों से बात करने की छूट थी।
2. शिक्षाक्रम निर्धारण में बच्चों की कोई भूमिका नहीं थी। जैसा ऊपर बताया गया है, शिक्षाक्रम-राष्ट्रीय एवं राज्य शिक्षाक्रम नीति से निर्देशित थे किन्तु पाठ्यपुस्तकों, सीखने की सामग्री, सीखने का क्रम या किसी निर्धारित समय में सीखने की मात्रा; ऐसे मसले थे जिनमें लचीलेपन तथा चयन की पर्याप्त गुंजाइश थी। किन्तु बच्चों द्वारा अपने शिक्षाक्रम के स्वयं निर्धारण का

विचार, जिसकी कई बार वकालत की जाती है, कभी स्वीकार नहीं किया गया। यह दरअसल एक हास्यास्पद विचार है कि बच्चे स्वयं ही अपने शिक्षाक्रम का निर्धारण कर सकते हैं। सीखने के तरीकों तथा सीखने योग्य विषयवस्तु के निर्धारण हेतु सीखने के क्षेत्र की पहले से समझ होना आवश्यक होता है। शिक्षाक्रम-निर्धारण बच्चों की निर्णयन क्षमता से परे सिर्फ इसलिए है क्योंकि, यदि उन्हें पहले से ही यह समझ होती तो स्कूल की आखिर जरूरत ही क्या थी ? जॉन व्हाइट का कथन है कि बच्चों को एक दिया हुआ शिक्षाक्रम पढ़ाना इसलिए जरूरी है ताकि वे स्वयं चयन करने के योग्य बन सकें।

3. शिक्षक बच्चों के निर्णयों को निरस्त कर सकते थे यदि उन्हें ये निर्णय बिल्कुल अनुपयुक्त लगते, परन्तु ऐसे अधिक वाकयात आए हों, मुझे याद नहीं आता। विद्यालय में 'स्वतंत्रता' पर्याप्त रूप से विद्यमान थी किन्तु यह कहना गलत होगा कि 'अध्यापक-छात्र' संबंधों में बिल्कुल विषमता नहीं थी। अध्यापक मानते थे कि वे बच्चों को सिखाने के लिए उत्तरदायी हैं और बेहतर चुनाव करने में बच्चों की मदद करना उनका कर्त्तव्य है, इसलिए वे उन्हें मनचाहा करने की छूट नहीं दे सकते थे। इसके बावजूद कोई निर्णय उन पर बाहरी रूप से थोपा नहीं जाता था। बातचीत, शांत एवं कोमल समझाइश तथा प्रतीक्षा हमारी कुंजियां थीं।

इस सबका मतलब यह है कि बच्चे एक खास किस्म के सीखने के ढांचे के अन्तर्गत निर्णय लेते थे और उन्हें वयस्क सहायता या हम जिसे निगरानी कह सकते हैं, जाहिर है कि उम्र में बड़े बच्चे (10 वर्ष या अधिक) छोटे बच्चों की तुलना में अधिक स्वतंत्र थे तथा विद्यालय से संबंधित मामलों में निर्णय लेने में अधिक सक्रिय थे।

'खुलेपन' एवं 'स्वतंत्रता' के इस वातावरण ने सांस्कृतिक विविधता को पहचानने व संभालने में स्कूल की मदद कैसे की ?

यद्यपि मैंने सांस्कृतिक विविधता के बहुआयामी पक्ष की बात प्रारम्भ में की है- किन्तु दोनों शिक्षक इस विविधता को उस समय अव्यक्त रूप से ही समझते थे। बच्चों की आर्थिक पृष्ठभूमि की भिन्नता ही एक ऐसा मुद्दा था जिसे वे स्पष्ट एवं व्यक्त रूप से पहचानते थे। उस समय शिक्षकों ने केवल जिस बात का ध्यान रखा वह थी कि सभी बच्चों को शैक्षिक अवसरों की समानता, स्कूल संबंधी निर्णयों में भागीदारी मिले, न्याय व निष्पक्षता उनके संजोए मूल्य व दृढ़ सिद्धांत थे।

स्कूल काफी आराम से चला, सभी बच्चों ने अच्छी तरह सीखा एवं दृढ़ लोकतांत्रिक मूल्यों का विकास संभव हुआ। पीछे दृष्टि डालने पर मैं यह सोचकर हैरान होता हूं कि बच्चों की पारिवारिक पृष्ठभूमि की भारी भिन्नता तथा इस कारण विचार एवं व्यवहार में अन्तर स्कूल के लिए बाधक क्यों नहीं बने ? बच्चों के अभिभावकों के बीच विद्यमान सत्ता संबंधों के दोहराव से हम स्कूल को कैसे बचा पाए?

इस छोटी सफलता के मेरी समझ में निम्न कारण थे :

सभी बच्चों के बीच समानता के सिद्धान्त को स्कूल से जुड़े सभी वयस्कों ने स्वीकार किया और उसका आदर किया, विशेष रूप से शिक्षकों तथा स्कूल के वित्तीय संरक्षकों ने। समानता का विचार सभी मनुष्यों की समानता में विश्वास से उपजा तथा इस विचार से कि सभी बच्चे उतनी ही अच्छी तरह सीख सकते हैं। इससे ऐसा माहौल बना कि प्रत्येक बच्चा समान रूप से अपने लिए चाहत, देखभाल तथा संरक्षण को महसूस कर पाया। बर्ताव में निष्पक्षता तथा विवादों को खुले विनिमय द्वारा हल करने की प्रवृत्ति से सभी आश्वस्त बन पाए कि किसी के हितों को अनदेखा नहीं किया जाएगा।

बच्चों से जुड़े सभी मसलों पर निर्णय लेने में बच्चों को भागीदार बनाना तथा उनमें अपने चारों ओर फैले संसार को सक्रिय तथा रचनात्मक तरीके से समझने की क्षमता का विकास करना- ये दोनों बातें स्कूल का ध्येय थीं। बच्चों की भागीदारी पूर्णतः स्वतःस्फूर्त व स्वैच्छिक हो- इस बात का विशेष ध्यान रखा गया। यह स्वैच्छिक भागीदारी- पढ़ाई लिखाई के अलावा पाठ्येत्तर प्रवृत्तियों में भी सुनिश्चित की गई। शिक्षकों एवं बच्चों को पता था कि किसी बच्चे की स्कूल की गतिविधियों में भागीदारी लेने का इकलौता तरीका परस्पर स्वीकृति था। इस प्रक्रिया में समय लगता था किन्तु हर कोई उस छोटे समूह के योग्य एवं जिम्मेदार सदस्य के रूप में अपनी भूमिका महसूस करता था जो उनके व्यक्तिगत जीवन में भी महत्त्वपूर्ण थी।

प्रत्येक बच्चे की शैक्षिक जरूरतों के प्रति संवेदनशीलता तथा बच्चों पर वैयक्तिक रूप से ध्यान देने हेतु शिक्षकों को प्रशिक्षित करना- स्कूल के दो महत्त्वपूर्ण कार्य थे। इस बात को पहचाना जाता था कि सीखने का मतलब है- नए अनुभवों व सूचनाओं को पहले से विद्यमान समझ एवं व्याख्या के आधार पर अर्थ देना। अतः बच्चे की पहले से जो समझ है उसकी उपेक्षा करने की गुंजाइश ही न थी क्योंकि यही इकलौता प्रस्थान बिन्दु था। शिक्षण कार्य का सामान्यीकरण करके उन्हें ज्यों का त्यों सभी बच्चों पर लागू कभी नहीं किया गया बल्कि-प्रत्येक बच्चे के स्तर, अनुभव एवं भाषा के अनुरूप विशिष्ट शिक्षण पर जोर दिया गया।

शिक्षकों को स्कूल अपने तरीके से संचालित करने की पर्याप्त स्वायत्तता दी गई। इस हेतु शिक्षक स्कूल में होने वाली बैठकों में सहमति बनाने एवं अभिभावकों से वैयक्तिक विचार-विमर्श द्वारा बच्चों के संबंध में निर्णय लेने के लिए स्वतंत्र थे। परीक्षा अथवा मूल्यांकन के दबाव के बिना शिक्षक स्वयं शिक्षाक्रम निर्धारित कर सकते थे। स्कूल शिक्षा के दस वर्षों के उपरान्त कक्षा दस की परीक्षा हेतु बच्चों को तैयार करने की बाध्यता तो थी किन्तु इन दस वर्षों को शिक्षक एवं बच्चे अपनी इच्छानुसार लचीलेपन के साथ सीखने में लगा सकते थे।

छात्रों की सीमित संख्या एवं भारतीय मानदण्डों के अनुसार एक अत्यन्त उच्च अध्यापक-छात्र अनुपात भी स्कूल की सफलता का एक महत्त्वपूर्ण कारक था। 25 बच्चों पर दो अध्यापक थे अतः शिक्षक प्रत्येक छात्र को गहनता से समझ सके। इस निकटता ने आपसी विश्वास पर आधारित मजबूत संबंधों को जन्म दिया। ऐसा लगता है कि स्नेह पर आधारित ऐसे संबंध बच्चों की पृष्ठभूमि की भिन्नता के अहसास को क्षीण करने में सक्षम होते हैं, चाहे इन्हें औपचारिक रूप से भले ही समझा अथवा सुलझाया न जाए- आपसी विश्वास एवं स्नेह पर आधारित व्यक्तिगत संबंध इन भिन्नताओं को पाटने की क्षमता रखते हैं।

भारत में जाति-वर्ण व्यवस्था को 'सांस्कृतिक भिन्नता' से जोड़कर प्रायः नहीं देखा जाता। आज भी देश के ग्रामीण इलाकों में जाति, वर्ण-व्यवस्था मजबूती से कायम है। इस सामाजिक व्यवस्था के कारण जो सांस्कृतिक भिन्नता अलग-अलग जाति के बच्चों में उभर कर आती है उसे अब तक हमारे यहां जानबूझ कर कम करके आंका जाता रहा है।

भाग-II

वृहत् या अपेक्षाकृत बड़े विन्यास में भिन्नताओं को मान्यता :

बच्चों की पारिवारिक पृष्ठभूमि में पाई जाने वाली विविधता किस प्रकार शिक्षण विधि के लिहाज से महत्त्वपूर्ण है यह तब अधिक स्पष्ट हुआ जब हमारे एकल स्कूल ने विस्तार करके पिछड़े बच्चों के लिए एक कार्यक्रम का रूप लिया। तीन स्कूलों के पांच सौ बच्चों के लिए बनाई गई इस परियोजना में विभिन्न वर्णों की जातीय पृष्ठभूमि वाले बच्चे थे। बच्चे रैगर (जातीय श्रृंखला में काफी नीचे), मीणा, गुर्जर, माली, ब्राह्मण (जातीय श्रृंखला में सर्वोपरि), राजपूत तथा मुस्लिम परिवारों से थे। भाषा, वृत्ति एवं व्यवहार की प्रवृत्तियों के अध्ययन के लिए यह संख्या काफी थी।

जब हम एकल स्कूल रूपी इकाई से वंचित बच्चों के लिए परियोजना में तब्दील हो रहे थे, तभी हमें राज्य द्वारा पोषित कुछ विशाल परियोजनाओं को अकादमिक सहयोग मुहैया करवाने का अवसर मिला। इस प्रकार हम विशाल भारतीय शिक्षा व्यवस्था से रूबरू हुए। साथ ही सेवारत शिक्षकों के प्रशिक्षण तथा राज्य एवं राष्ट्रीय स्तरीय शिक्षाक्रम विकास में शरीक होने पर विविधता के मुद्दे को हमने शिद्दत से महसूस किया।

एक ऐसे शिक्षक के नजरिए से भारतीय परिदृश्य को समझते हुए जिसने एक छोटे विद्यालय के अपने कार्य अनुभव (और बच्चों की विशिष्ट व्यक्तिगत आवश्यकताओं के प्रति संवेदनशीलता से काम करते हुए) के आधार पर मैं कह सकता हूं कि विविधता के मुद्दे को विभिन्न स्तरों पर पहचाना जाना आवश्यक है।

सर्वप्रथम, भिन्नता व उसके कारकों- जैसे वर्ण-जाति, धर्म एवं संस्कृति के अन्तर्संबंध को पहचाना जरूरी है। भारत में जाति-वर्ण व्यवस्था को 'सांस्कृतिक भिन्नता' से जोड़कर प्रायः नहीं देखा जाता। आज भी देश के ग्रामीण इलाकों में जाति, वर्ण-व्यवस्था मजबूती से कायम है। इस सामाजिक व्यवस्था के कारण जो सांस्कृतिक भिन्नता अलग-अलग जाति के बच्चों में उभर कर आती है उसे अब तक हमारे यहां जानबूझ कर कम करके आंका जाता रहा है। हाल के वर्षों में जातिगत राजनीति (जो एक स्वस्थ प्रवृत्ति नहीं है) में उछाल आया है तथा दलितों की आवाज राजनैतिक गलियारों में सुनी जाने लगी है व ज्यादा मजबूत हो रही है (जो परिपक्व होते लोकतंत्र के लिए एक स्वस्थ संकेत है)। अब यह बात पहचान में आने लगी है कि जातिगत भिन्नता तथा सांस्कृतिक भिन्नता में कई समान तत्त्व पाए जाते हैं। वे सामान्य रूप जिनके द्वारा जाति, संस्कृति एवं धर्म जनित विविधता स्कूलों में दिखती है- निम्न हैं :-

भाषा का प्रयोग : सामान्यतः यह माना जाता है कि सभी हिन्दी भाषी लोग (या हिन्दी की कोई विशेष बोली बोलने वाले लोग भी) समान तरह से हिन्दी बोलते हैं। यह समरूप भाषा स्थान विशेष के निवासियों तथा स्कूल द्वारा बोली जाती है। अर्थात् एक छोटे गांव के लोग भाषा का प्रयोग समान तरीके से करते हैं, अतः भाषागत क्षमताओं के संदर्भ में बच्चों की योग्यता समान होती है। इस समरूपता के विचार का दूसरा विपरीत ध्रुव है- एक ही गांव में भाषा बोलने के विविध रूप प्रचलित हैं हालांकि उस पूरे क्षेत्र में एक ही भाषा प्रचलित है। सच्चाई हमेशा की तरह इन दोनों के बीच कहीं है। भाषा के प्रयोगों में पाई जाने वाली भिन्नता से यह आशय नहीं है कि हम हर रूप को एक पृथक भाषा मान लें- दरअसल ये भाषा

के व्यवहृत रूप हैं। उदाहरणार्थ- बड़ों के प्रति भाषा में आदरसूचक शब्दों के प्रयोग के मामले में बच्चों की जातीय पृष्ठभूमि के कारण विविधता होती है। राजस्थान के ग्रामीण विद्यालयों में बच्चे वयस्कों को संबोधित करने के लिए 'आप' (आदरयुक्त संबोधन) शब्द का प्रयोग करते हैं किन्तु कुछ क्षेत्रों में 'तुम' शब्द भी प्रचलित है। 'तुम' शब्द किसी भिन्न पृष्ठभूमि के शिक्षक को अनादरपूर्वक संबोधन लग सकता है- यहां तक कि अपमानजनक भी प्रतीत हो सकता है। चाहे बच्ची की ऐसी कोई मंशा न हो और वह शिक्षक को उतना ही आदर देना चाहती हो जितना अपने पिता या दादा को। इस प्रकार 'तुम' शब्द का प्रयोग करने वाले बच्चे एवं उसके शिक्षक के बीच बनने वाले संबंध उनके बीच होने वाला सम्प्रेषण जरूर प्रभावित होंगे। चूंकि कक्षा में प्रयोग की जाने वाली पाठ्य-सामग्री में भी आदरयुक्त संबोधन के लिए 'आप' शब्द प्रयुक्त होता है, अतः कक्षा के वे बच्चे जो 'तुम' शब्द का प्रयोग करते हैं अन्य बच्चों की नजर में अपरिष्कृत बच्चों की श्रेणी में आ जाएंगे। ठीक यही बात शब्दावली, शब्दों के उच्चारण एवं बोलने के उतार-चढ़ाव पर भी लागू होती है। उत्तर भारत के स्कूलों के संदर्भ में जहां तथाकथित परिष्कृत या मानक हिन्दी पर बल दिया जाता हैं वहां यह अंतर महत्त्वपूर्ण हो जाता है। ऐसे में नफासत से हिन्दी न बोल पाने वाले बच्चे कक्षा में अभिव्यक्ति तथा प्रश्न पूछने में संकोच महसूस करते हैं। अतः भारतीय विद्यालयों में जो 'चुप्पी की संस्कृति' दृष्टिगोचर होती है- हो सकता है उसके मूल में मानक भाषा का यह प्रभुत्व एक प्रमुख कारण हो।

सामाजिक व्यवहार तथा आचरण : जातीय तथा सांस्कृतिक अन्तर पृथक-पृथक सामाजिक आचरण से भी उजागर होते हैं हालांकि ये भाषा में भी अक्सर दिखते हैं। मिसाल के तौर पर, वयस्कों से एवं खासकर शिक्षकों से अभिवादन के तौर-तरीके। कुछ परिवारों के बच्चे (जहां अभिवादन के विशिष्ट औपचारिक तौर-तरीके प्रचलित नहीं होते) विद्यालय में प्रचलित अभिवादन के तौर-तरीकों में स्वयं को असहज पाते हैं। ये तौर-तरीके सामान्य मध्यमवर्गीय व्यवहार से जितने अलग होंगे, बच्चे उतने ही उन्हें अपनाने में झिझकेंगे। यह मानना कि सभी भारतीय बच्चे दोनों हाथ जोड़कर नमस्ते कर सकते हैं या बड़ों के (खासकर अध्यापकों के) पैर छू सकते हैं, त्रुटिपूर्ण है और कई अवसरों पर बच्चे इस विषय में अस्पष्ट होते हैं कि वे शिक्षकों या आगंतुकों का अभिवादन कैसे करें। यह अस्पष्टता उन्हें शर्मीला और संकोची बना देती है। अपनी कक्षा के साथियों के साथ बरताव में भी ऐसे अन्तर हो सकते हैं। जातिगत पूर्वाग्रह के कारण छोटे बच्चे भी अपने कुछ साथियों के साथ मिल-बैठकर भोजन करने या उनके द्वारा छुआ पानी पीने में अनिच्छुक रहते हैं। ये छोटी-छोटी बातें प्रायः कक्षा में सीखने के लिए समूह के निर्माण पर काफी असर डालती हैं।

काम, विशेषकर शारीरिक श्रम के प्रति रवैया : पारिवारिक तथा जातीय पृष्ठभूमि का बच्चों के काम के प्रति रवैए पर प्रभाव पड़ता है कि किन कार्यों को सम्मानजनक या निम्न श्रेणी का माना जाए और कौन से सामाजिक रूप से निम्न समझी जानी वाली जातियों द्वारा ही किए जाएं। उदाहरण के लिए, कतिपय जाति से संबंध रखने वाले बच्चे स्कूल में सफाई, फर्श-साफ करना, धूल साफ करना, टॉयलेट की सफाई जैसे कार्यों को निम्न श्रेणी का कार्य मानेंगे। यह भारत के ग्रामीण स्कूलों के लिए महत्त्वपूर्ण मसला है जहां इन कार्यों के लिए नियमित स्टाफ की व्यवस्था नहीं होती। परिणामस्वरूप, ऐसे स्कूल या तो बिना साफ-सफाई के रहते हैं या फिर वहां कतिपय जाति के बच्चों या लड़कियों से ऐसे कार्य करवाए जाते हैं। दूसरी ओर काम को समय पर करने या आराम से करने आदि की आदत या इनके प्रति वृत्ति में भी अन्तर हो सकता है। किसी कार्य को निश्चित समय सीमा में करने का विचार कृषक समुदाय के बच्चों के लिए अपरिचित होता है। कृषि में बेहद व्यस्त एवं आपाधापी भरे कार्य हो सकते हैं किंतु 'नियमितता' को संभवतः महत्ता न दी जाए। ऐसी मनोवृत्ति से परीक्षा-समय बच्चों के लिए बहुत तनावमय हो सकता है जबकि वर्ष का बाकी समय आराम से दैनिक कार्य के प्रति ढीले रवैये के साथ बिताया जा सकता है।

आत्मछवि व पहचान : आत्मछवि या पहचान का निर्माण एक अत्यन्त जटिल सामाजिक व मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। मैं गहनता से इसकी पड़ताल नहीं करूंगा। शिक्षक बच्चों से तथा बच्चे आपस में जो परस्पर अपेक्षा रखते हैं उसमें जातिगत पहचान अहम भूमिका निभाती है। अपनी जातिगत पृष्ठभूमि तथा सामाजिक-क्रम में अपनी जाति की सापेक्ष स्थिति को लेकर बच्चों में खुद अक्सर गर्व या झिझक का भाव होता है। बच्चे स्वयं से या शिक्षक बच्चों से जो अकादमिक अपेक्षा रखते हैं- उसमें भी यह तथ्य उभर कर आता है। वे कतिपय जाति के बच्चों से ऊंची अकादमिक उम्मीदें रखते हैं तथा कुछ जाति के बच्चों को वे इस योग्य नहीं मानते अथवा सोचते हैं कि वे शिक्षा प्राप्त करने में विशेष रुचि नहीं रखते।

विविधता के मुद्दे को सुलझाने तथा बच्चों की इस प्रक्रिया में भागीदारी पर चर्चा करने से पहले मैं यह स्पष्ट करना चाहता हूं कि बच्चों की पृष्ठभूमि में भिन्नता एवं अन्तर को पहचानना महत्त्वपूर्ण क्यों है।

लोकतंत्र में स्कूलों का कार्य सभी को सीखने के समान अवसर उपलब्ध करवाना है। जिस वास्तविक यथार्थ को बच्चे भोगते हैं, यदि वह शिक्षाक्रम, पाठ्य सामग्री तथा पाठ्यपुस्तकों से नदारद हो

तो वे शैक्षिक प्रक्रिया से अलगाव महसूस करते हैं। ग्रामीण क्षेत्र के वंचित जाति के बच्चे शिक्षाक्रम में ऐसा कुछ नहीं पाते जो उनके दैनिक जीवन से कहीं मेल खाए। जबकि उच्च जाति के शहरी बच्चे संवाद में, शैक्षिक सामग्री में तथा शिक्षकों के सामाजिक व्यवहार में अपने जीवन की छवि देखकर-स्कूल से जुड़ाव महसूस करते हैं। इस प्रकार दो भिन्न प्रकार की पृष्ठभूमि से आए बच्चे वास्तव में सीखने के बहुत अलग अवसर पाते हैं जबकि तकनीकी रूप से कहा जा सकता है कि वे एक ही शिक्षा पा रहे हैं। ऐसी स्थिति में यदि हम ग्रामीण क्षेत्र के दलित बच्चों की मदद करना चाहते हैं तो बच्चों की पृष्ठभूमि की विविधता को पहचानना इस दिशा में पहला कदम हो सकता है। हमें इसे भिन्नता को पहचानने का शिक्षणशास्त्रीय आधार भी कह सकते हैं।

दूसरे, सभी की समान अस्मिता का सिद्धान्त मांग करता है कि हम सामूहिक तथा वैयक्तिक दोनों स्तरों पर भिन्नता की पहचान करें। कक्षा में बच्चे की पहचान को सकारात्मक मान्यता देना अत्यावश्यक है। हर बच्चा स्कूल में सुरक्षित तथा स्वतंत्र महसूस करे, यह एक आवश्यक मूल्य है। अतः पूर्व वर्णित भिन्नताओं का हल निकालना जरूरी है यदि हम स्कूल में सभी बच्चों के लिए ऐसा सकारात्मक वातावरण बनाना चाहते हैं।

लोकतंत्र में स्कूलों का कार्य सभी को सीखने के समान अवसर उपलब्ध करवाना है। जिस वास्तविक यथार्थ को बच्चे भोगते हैं, यदि वह शिक्षाक्रम, पाठ्य सामग्री तथा पाठ्यपुस्तकों से नदारद हो तो वे शैक्षिक प्रक्रिया से अलगाव महसूस करते हैं। ग्रामीण क्षेत्र के वंचित जाति के बच्चे शिक्षाक्रम में ऐसा कुछ नहीं पाते जो उनके दैनिक जीवन से कहीं मेल खाए।

तीसरे, लोकतांत्रिक नागरिकता में 'संवाद के लिए खुलापन' एवं दूसरों के प्रति आदर निहित है। अतः स्कूल के सभी बच्चों के लिए दूसरों के मूल्यों, परंपराओं, भाषा तथा विश्व-दृष्टि जानना समझ के विकास के लिए जरूरी है। इसके अभाव में बच्चों में नागरिकता के मूल्यों का विकास बाधित हो सकता है।

कक्षा में सांस्कृतिक विविधता को पहचानना क्यों जरूरी है इसके कई कारण हैं; मैं तीन कारणों को रखूंगा जो यहां ज्यादा प्रासंगिक हैं।

भाग-III

शिक्षण विधि द्वारा भिन्नता को संभालना तथा बच्चों की भागीदारी :

सरकारी स्कूलों के विशाल नेटवर्क के बीच कार्य करते हुए, सेवारत शिक्षकों के प्रशिक्षण तथा शिक्षकों को अकादमिक सहयोग देते समय उपरोक्त समस्याओं का प्रायः ही सामना करना पड़ता है। कई बार संवेदनशील व विवेकवान शिक्षाविद् इन भिन्नताओं पर बल देते दिखते हैं तथा भिन्न सामाजिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि वाले बच्चों के साथ भिन्न व्यवहार की वकालत करते हैं। इस प्रकार भिन्नता को गौण बनाकर पुल बांधने और समाज की एक साझा समझ पैदा करने का अवसर खो दिया जाता है। दूसरा पहलू राजनैतिक 'चतुराई' का है जिसके तहत सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति संवेदनशीलता एवं सापेक्षता की दुहाई देकर विभिन्न सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवहारों पर ईमानदारी से बात करने तथा इसके परिणाम समझने से लोग कतराते हैं। सिक्के का दूसरा पहलू ऊपर बताया गया है कि कुछ विशिष्ट सांस्कृतिक या जातीय समुदायों में प्रचलित व्यवहारों, भाषा आचरण व मूल्यों को ही मानक मानकर अन्य को सामाजिक-सांस्कृतिक विकास क्रम में पिछड़ा मान लिया जाता है, साथ ही उन पर तरस खाकर उनकी मदद की जाती है कि वे प्रभुत्व रखने वालों के आचार-व्यवहार तथा वृत्तियों को अपनाएं। भारतीय स्कूलों में प्रायः यह मनोवृत्ति पाई जाती है।

दोनों तरीके अपर्याप्त हैं तथा इनका औचित्य सिद्ध करना कठिन है। चीजों एवं स्थितियों को ज्यों का त्यों स्वीकार करने का पंडिताऊ तरीका किसी को भी कायल नहीं कर सकता। ऐसे में समाज को समझने तथा सामाजिक व्यवहार पर कक्षा में चिन्तन करने का मौका खो दिया जाता है और इस प्रकार अपने समाज को समझने व आलोचना कर पाने का महत्त्वपूर्ण शैक्षिक उद्देश्य छूट जाता है। दूसरी ओर, बिलाशर्म पक्षपात तथा प्रभुत्ववादी सामाजिक आचरण के प्रति निर्विवाद स्वीकृति शक्तिविहीन समुदायों को और भी हाशिए पर ला खड़ा करती है, इसमें पहली नीति की अन्य सभी खामियां तो हैं ही।

इस समस्या के समाधान हेतु दो मानवतावादी सिद्धान्त कारगर हो सकते हैं। पहला, स्कूलों में 'समानता' के आदर्श को केवल समान व्यवहार के बजाय समान अवसरों व प्रोत्साहन की सच्ची सुलभता के रूप में देखा जाए। दूसरे सिद्धान्त के तहत बच्चे को 'इंसान' के रूप में प्राथमिकता दी जाए, जो अपनी शिक्षा में सक्रिय रूप से भागीदार हो। इसका अर्थ होगा कि एक वंचित बच्ची समुदाय के तौर-तरीकों के प्रति सामाजिक रवैए तथा बच्ची के सामाजीकरण द्वारा अपनाई गई रुकावटें इस हद तक हटाई जा सकें कि उसके लिए सीखने के अवसर दूसरे बच्चों जितने ही अच्छे बन पाएं। अपनी एवं दूसरों के सांस्कृतिक कार्य-कलापों को उघाड़कर देख सके और भिन्नताओं के बावजूद लोगों का सम्मान करना सीख सके।

अतः एक बच्ची अपने समुदाय की सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना के लघु मूर्त स्वरूप से कहीं ज्यादा बढ़कर है। यह चेतना निश्चित रूप से उसके अस्तित्व में समाहित है, किन्तु वह बच्ची अपनी सामुदायिक चेतना से परे, वैकल्पिक व्यवहारों को तथा उसके अस्तित्व के अधिकार को भी समझ सकती है।

अपने आगे के वर्णन में मैं यह चित्रण करने की कोशिश करूंगा कि कैसे इन दोनों सिद्धान्तों को स्कूल में बच्चों की सक्रिय सहभागिता के साथ लागू किया जा सकता है। यहां मैं एक बात अवश्य स्पष्ट करना चाहूंगा कि कमजोर वर्ग के बच्चे ऊपर वर्णित समस्याओं के अतिरिक्त अन्य कई ठोस समस्याओं का समाना करते हैं : बदतर स्कूल, असंगत एवं उच्च छात्र-अध्यापक अनुपात, ग्रामीण जनता के लिए निर्मित स्कूलों में बुनियादी सुविधाओं की बदतर स्थिति आदि इन्हें पहले सुधारना होगा इससे पहले कि शिक्षण विधियों द्वारा विभिन्नता की समस्या को सुलझाया जाए। यह लेख बाद वाले विषय पर है, अतः यहां मैं शिक्षाक्रम, पाठ्यपुस्तक तथा कक्षाकक्ष के संदर्भ में भिन्नता पर विमर्श तक ही स्वयं को सीमित रखूंगा। सुविधाओं व साधनों के मसले महत्त्वपूर्ण हैं पर लेख के विषय क्षेत्र से बाहर हैं।

जैसा कि मैंने पूर्व में स्पष्ट किया है कि तीन स्तरों पर 'भिन्नता' की समस्या को सुलझाया जा सकता है। इसमें सर्वप्रथम शिक्षाक्रम पर बात करें। कोई भी लोकतांत्रिक देश क्षमताओं, समझ की गहराई तथा ज्ञान की व्यापकता के संबंध में बच्चों के लिए अलग-अलग शैक्षिक मानदण्ड नहीं बना सकता। ये देश के सभी बच्चों के लिए समतुल्य होने चाहिएं। लेकिन उसी समझ तथा ज्ञान को बच्चों की उनकी अलग-अलग सामाजिक पृष्ठभूमि के अनुरूप प्रासंगिक बनाया जा सकता है, बच्चों द्वारा भोगे जा रहे यथार्थ से जोड़ा जा सकता है। उदाहरण के लिए, गणित जैसे शाश्वत नियमों वाले विषय में भी अलग-अलग समुदायों में मानसिक गणित के विभिन्न तरीकों को लेकर उन्हें औपचारिक गणितीय अवधारणाओं से जोड़ा जा सकता है। इनके संकल्पनात्मक संबंधों, सरलता या चित्रात्मक सौंदर्य के लिए तुलना तथा विश्लेषण किया जा सकता है। यदि एक शिक्षक, शिक्षाक्रम को बच्चों की समझ तथा वांछनीय क्षमता दोनों ही दृष्टि से सभी बच्चों पर लागू करना चाहे तो उसे कल्पनाशीलता एवं लचीलेपन से काम लेना होगा तथा उसे खुद काफी स्वतंत्रता मिलना जरूरी होगा। चूंकि एक शिक्षिका सभी बच्चों की पृष्ठभूमि के बारे में सूक्ष्म जानकारी तथा उनके मनस के बारे में पूर्ण समझ नहीं रखती, अतः कक्षा-कक्ष में बच्चों को स्वयं ही निर्णय लेने हेतु तैयार करना एक मात्र समझदारी भरा विकल्प है। जैसे कि यह तय करने के पश्चात् कि क्या और कितना सिखाया जाना है- अन्य मसलों पर बच्चे स्वयं शिक्षक की मदद से निर्णय कर सकते हैं; जैसे सीखने की गति, सीखने का क्रम, शिक्षण कार्यक्रम की योजना आदि। बच्चे उदाहरण इकट्ठे कर सकते हैं, छोटे समूह बनाकर तय कर सकते हैं कि प्रत्येक विषय के लिए वे कितना समय देना चाहेंगे। इस प्रकार साझा लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए वे अपने लिए सबसे कारगर तरीके ढूंढ़ सकते हैं।

'पाठ्यपुस्तक' दूसरा स्तर है जहां 'भिन्नता' से दो-चार होना है। किताबें इस तरह तैयार की जा सकती हैं कि वे बच्चों को सोचने और स्वयं खोजने के लिए प्रेरित करें न कि पूर्वनियोजित ज्ञान के छोटे भण्डार बनाएं। बच्चों में 'मानक सोच' रोपने के बजाय, वे शिक्षक के कक्षा में सक्रिय हस्तक्षेप के जरिए वे अनेक परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत कर सकती हैं जिन्हें आगे खोजा-परखा जा सके। पाठ्य सामग्री के स्रोत के विषय में बच्चों को बताना एवं उन्हें स्रोत की तस्दीक के लिए प्रेरित करना एक तरीका हो सकता है। सबसे महत्त्वपूर्ण, बच्चे पाठ्यपुस्तकों को ऊपरी तौर पर समझने की बजाय उन पर कक्षा में चर्चा कर सकते हैं, चुनौती दें सकते हैं। बच्चे निश्चय ही चर्चा में हिस्सा ले सकते हैं जब वे अपने सांस्कृतिक माहौल, अपनी भाषा या बोली के माध्यम से एवं अपने नजरिए से पाठ्यपुस्तक को जांचें-परखें। कई उपलब्ध पुस्तकें होने पर पुस्तक चुनने के निर्णय में बच्चों को शामिल किया जा सकता है। अपने साथियों एवं शिक्षक के सहयोग से बच्चे बहुत अच्छे निर्णय करने के काबिल होते हैं।

तीसरा एवं सबसे महत्त्वपूर्ण स्तर जिसके द्वारा इन भिन्नताओं को सीखने के अवसरों तथा लोकतांत्रिक विमर्श में रूपान्तरित किया जा सकता है- वह है- कक्षा-कक्ष। यदि सबके लिए देखभाल, आदर, स्वतंत्रता, समता तथा न्याय जैसे मूल्य कक्षा के वातावरण में दृढ़ता से स्थापित हों तो बच्चे सक्रियता से कक्षा की कार्य संस्कृति के नियम बना सकते हैं। कक्षा-कक्ष की सजावट, छोटे समूह कैसे बनते हैं, कौन-सी गतिविधियां चुनना चाहते हैं आदि सभी बच्चों द्वारा निर्धारित की जा सकती हैं। यदि भाषा एवं व्यवहार के सभी तौर तरीके स्वीकार्य हों, साथ ही कक्षा में उनके योगदान को मूल्यवान समझा जाए तो सभी बच्चे आराम से एवं समानतापूर्वक भागीदारी निभाते हैं। कोई बच्ची जितनी ज्यादा भागीदारी करेगी, उतनी ही ज्यादा उसे अपने सोचने के तरीकों व विचारों को साझा करने का मौका मिलेगा और उतना ही ज्यादा वह दूसरों के सोचने के तरीकों से वाकिफ होगी। इससे एक साझी कक्षाई-भाषा विकसित होगी, जो सभी सामाजिक रुझानों से बनी होगी और जिसे सब समझते होंगे। लेकिन यह बहुत स्पष्ट हो कि कक्षा में किसी भी मुद्दे पर वाद-विवाद या विमर्श हो सकता है लेकिन किसी की भी हंसी नहीं

उड़ाई जा सकती। प्रश्नों का स्वागत है, उपहास का नहीं। यह समझना भी जरूरी है कि किसी का अपमान अथवा मान मर्यादा का हनन अस्वीकार्य है तथा सभी कक्षा नाम के इस छोटे शिक्षण समूह के समान रूप से मूल्यवान सदस्य हैं। दूसरा सिद्धान्त है कि कोई भी चीज पूरी तरह समझने एवं राजी होने पर ही स्वीकार की जानी चाहिए। इससे यह जरूरी होगी कि हर बच्चा वहां से सीखना प्रारम्भ करे जहां पर वह अभी है। यदि अभी वे समझ के अलग-अलग स्तर पर हैं, तो वे वहां से शुरू करें जहां उन्हें परेशानी न लगती हो, परन्तु सभी को उस मुद्दे की वृहत समझ के लिए चुनौती का सामना करना पड़ेगा।

हमारा कार्य अनुभव यह है कि यदि शिक्षक कक्षा विमर्श में ऐसे साझा नियमों/मूल्यों का सृजन करने में सक्षम हो, सभी बच्चों की सक्रिय भागीदारी की कोशिश हो तो 'जातिगत' भिन्नता को सुलझाया जा सकता है। मैं यह दावा नहीं कर रहा कि सभी प्रकार की सांस्कृतिक भिन्नताओं का समाधान इस मार्ग में निहित है, किन्तु प्रारम्भिक शिक्षा के स्तर पर, विशेषतः भारतीय परिदृश्य में बच्चों की जानते-समझते हुए सहभागिता जाति प्रथा के नुकसान की भरपाई करने में सहायक हो सकती है।

मैं यहां पुनः स्मरण करवाना चाहता हूं कि इस मार्ग द्वारा निर्णय प्रक्रिया में बच्चों की सहभागिता की सिफारिश की जाती रही है किन्तु यह दावा नहीं किया जा रहा कि बच्चे अपने स्तर पर, बिना शिक्षक की मदद के, स्कूल संबंधी सारे निर्णय ले सकते हैं। ◆

शिक्षा विमर्श

साथियो,

शिक्षा विमर्श के लिए हम आपके सहयोग की तहेदिल से सराहाना करते हैं। साथ ही आपको सूचित करना चाहते हैं कि पिछले वर्षों में छपाई एवं अन्य खर्चों में हुई वृद्धि के कारण हमें जुलाई-अगस्त, 2009 अंक से सदस्यता राशि में बढ़ोतरी करनी पड़ी है। इसमें हम आपके सहयोग की अपेक्षा करते हैं।

साथ ही हम जानकारी दे रहे हैं कि 'शिक्षा विमर्श' सदस्यता नवीनीकरण एवं नई सदस्यता राशि बढ़ी हुई दरों से ही स्वीकार की जाएगी -

सदस्यता राशि

	व्यक्तिगत	**संस्थागत**
एक प्रति	45	55
वार्षिक	**250**	**300**
द्वि-वर्षीय	450	550
तीन वर्षीय	650	750
आजीवन	2500	3000

'शिक्षा-विमर्श' के लिए सभी भुगतान '**दिगन्तर शिक्षा एवं खेलकूद समिति, जयपुर**'/ (**Digantar Shiksha Evam Khelkud Samiti, Jaipur**) के नाम से देय मनीऑर्डर, बैंक ड्राफ्ट, चैक अथवा नगद द्वारा किए जाएं।

जयपुर से बाहर के चैक में 45 रुपए अतिरिक्त जोड़ें।

प्रबंधक